निरख-परख

सवालों के गुंजन से जूझते एक असली लघुकथाकार डॉ. पूरन सिंह

बलराम अग्रवाल

शिक्षा :
एम. ए., पी-एच. डी. (हिंदी) अनुवाद में स्नातकोत्तर डिप्लोमा।

कृर्ति :
2 कहानी संग्रह, 7 लघुकथा संग्रह, आलोचना की 6 एवं बाल साहित्य की 15 पुस्तकें प्रकाशित।

संप्रति :
संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार के अन्तर्गत सीनियर फैलोशिप।

सम्मान व पुरस्कार :
'डॉ. राम कुमार वर्मा बाल नाटक सम्मान'-2023 उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से विभूषित

सम्पर्क : एफ-1703, आर जी रेजीडेंसी, सेक्टर 120, नोएडा-201301 (उ.प्र.)
मोबाइल : 8826499115

पूरन सिंह हिंदी लघुकथा के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उनकी विशेषता उनकी गहन और सम्यक् दृष्टि तथा कथन की स्पष्टता दोनों हैं। इन दिनों वे दलित साहित्य से भी गहरे जुड़े हैं; लेकिन उनकी अनेक लघुकथाओं में इकतरफा सोच की बजाय उनके स्वतंत्र स्वर को रेखांकित किया जा सकता है। उनकी रचनाएं अधिकतर मानवीय और मनोवैज्ञानिक धरातल पर स्थित रहती हैं। हिंदी के लगभग सभी स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएं प्रकाशित होती रही हैं। अभी तक उनके 7 कहानी संग्रह, 9 लघुकथा संग्रह तथा 2 कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कुछेक संकलनों का संपादन भी उन्होंने किया है। अनेक भारतीय भाषाओं में उनकी रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। यहां उनकी कुछ चुनिंदा लघुकथाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत है–

उनकी लघुकथा 'दरिद्र आदमी' आत्ममंथन और पश्चाताप की गहन संवेदना को दर्शाती है। इसमें कथानायक आलोक बाबू का अकेलापन उनके भोगवादी अतीत का प्रतिफल बनकर उभरता है। लघुकथा देह और प्रेम के अंतर को रेखांकित करती है–जहां देहासक्ति क्षणिक सुख देती है, वहीं सच्चा प्रेम आत्मा को तृप्त करता है। उम्र के लगभग अंतिम पड़ाव पर पहुंचे एकाकी आलोक बाबू की भावुकता यह स्पष्ट करती है कि बिना आत्मीयता के संबंध अंततः शून्यता ही उपजाते हैं। कथा की भाषा सहज है, लेकिन उसकी मारक संवेदना पाठक को भीतर तक झकझोरती है। यह लघुकथा एक चेतावनी है–कि जीवन में संबंधों की गहराई, मात्र भोग से नहीं, प्रेम से आती है।यह लघुकथा एक स्वस्थ मनोविश्लेषणात्मक विमर्श को आमंत्रित करती है।

लघुकथा 'वर्चस्व' जंगल के माध्यम से समाज की शक्ति-केंद्रित राजनीति और वर्चस्ववाद की मानसिकता को उजागर करती है। शेर

का बकरी के बच्चे से प्रेम प्राकृतिक पाशविक नियमों से ऊपर उठने का प्रतीक है, जबकि अन्य शेरों की क्रूरता उस सत्ता और श्रेणीबद्धता की पाशविक मानसिकता को व्यक्त करती है जो ताकतवरों को 'कमजोरों' से संबंध नहीं बनाने का नारा उछालती है, उनका हमदर्द नहीं बनने देती। शेरों द्वारा अपने ही साथी की हत्या दर्शाती है कि समूह का वर्चस्व बनाए रखने के लिए मानवीय भावना या नैतिकता कोई मायने नहीं रखती। यह कथा वर्गभेद, सत्ता-लोलुपता और सामूहिक अमानवीयता की गहरी आलोचना है, जो समाज को चिंतन के लिए विवश करती है। यह दिखाती है कि जब सत्ता स्वयं को असुरक्षित महसूस करती है, तो अपनों का ही शिकार करने से भी नहीं चूकती।

'मासूम श्रेया' में आधुनिकता और पारंपरिक मानसिकता का द्वंद्व उजागर हुआ है। श्रेया के माता-पिता सतही रूप से प्रगतिशील हैं, लेकिन गहरे में जातिगत पूर्वग्रह उनमें अब भी जीवित हैं। इसमें प्रश्न-प्रतिप्रश्न की शैली प्रयोग पूरन सिंह ने किया है। पिता के सवाल पर मासूम श्रेया का सीधा सवाल समाज के दोहरे मानदंडों पर तीखा प्रहार करता है। वह बताता है कि हमारी सोच तो आजाद दिखती है, पर जड़ें अब भी पुरातनता के खूंटों से बंधी हैं। इस लघुकथा का मारक अंत देखिए–

'खाने पर बुलाने के लिए अपने दोस्त से जाति पूछना जरूरी होता है क्या पापा?' प्यारी-सी बेटी ने अपने ब्राह्मण पापा से पूछ ही लिया था आखिर; और पापा उसके प्रश्न का उत्तर आज तक तो दे नहीं पाए।

'आज का एकलव्य' परंपरागत मानसिकता के विरुद्ध नयी पीढ़ी के प्रतिरोध की प्रतीक है। आज का एकलव्य शोषण और छल की परंपरा को चुनौती देता है। यह लघुकथा आधुनिक शोषित-दलित समाज में उभरी उस चेतना का संकेत देती है, जहां अब अंध-समर्पण नहीं, बल्कि जागरूक प्रश्न, विरोध और स्वाभिमान की प्रबल भावना प्रमुख है। यह लघुकथा व्यंग्य के माध्यम से सदियों की सत्ता-धूर्तताओं का पर्दाफाश करती है।

एक सवाल पूरन सिंह ने 'मासूम श्रेया' के माध्यम से उठाया था; दूसरा सवाल, सवाल नहीं समूचा विमर्श उन्होंने 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि' के माध्यम से प्रस्तुत किया है। जातीय विद्वेष, आत्मग्लानि और नैतिक द्वंद्व को यह लघुकथा मार्मिक रूप से प्रस्तुत करती है। दिव्यांग का 'चौबे' होना इस कथा के 'मैं' पात्र की पूर्वाग्रह पोषित चेतना को झकझोर देता है। दिव्यांग के जिस हाथ को थामकर वह सहायतार्थ लिये जा रहा था, वही हाथ उसे 'जहरीला सांप' महसूस होता है और वह उसे झटक देता है। यथार्थ यह है कि 'मैं' स्वयं को बुद्धिस्ट कहता है, पर बुद्ध के मूल सिद्धांतों–करुणा, समता, मैत्री–का पालन नहीं करता। लघुकथा प्रश्न उठाती है–'अपने प्रति अतीत के दमन से उत्पन्न पीड़ा को हम वर्तमान में दूसरों के प्रति घृणा में बदलते हैं, या करुणा में? यही चयन हमारे असली या नकली होने की पहचान बनाता है। इन दो लघुकथाओं के माध्यम से पूरन सिंह ने सिद्ध किया है कि लघुकथाकार के रूप में वे इंसान पहले हैं, कुछ और बाद में।

'बाजारू लड़की' का कथानक किंचित अव्यहारिकता लिए हुए है तथापि यह पुलिसिया दुर्व्यवहार पर तीखा प्रहार करती है। यह कथा स्वयं कथाकार के सामने एक मौन प्रश्न बनकर खड़ी रह जाती है।

लघुकथा 'बॉडीगार्ड' स्त्री-सशक्तिकरण का ही नहीं, पितृ-सत्तात्मकता से बाहर आने की स्त्री-मुहिम का भी सशक्त उदाहरण है। सुभद्रा सिंह अपने भाई से परंपरागत सुरक्षा के स्थान पर आत्मनिर्भरता की मांग करती है। वह चाहती है कि उसे बचाया न जाए, बल्कि उसे खुद को और दूसरों को भी बचाने के योग्य बनाया जाए। कथा यह संदेश देती है कि रक्षा देने से बड़ा काम स्त्री को रक्षक बनाना है।

लघुकथा 'बट नॉट ह्यूमन' धार्मिक पहचान के पीछे छिपी मानवताविहीन खोखली एकता को बेनकाब करती है। लघुकथा के मुख्य पात्र 'मैं' द्वारा धार्मिक पहचान वाली एक तख्ती पर तत्संबंधी 'धर्म' के नीचे 'बट नॉट ह्यूमन' लिखना उसके प्रतिकात्मक विरोध को दर्शाता है। मसलन, 'आय एम हिन्दू' के नीचे वह 'बट नॉट ह्यूमन' लिख देता है। ऐसा करके वह संकेत करता है कि

सब लोग 'हिन्दू', 'मुस्लिम', 'सिख' और 'ईसाई' तो हैं, मनुष्य नहीं हैं। 'मैं' के इस दुस्साहस पर भीड़ द्वारा उसे पीट दिया जाता है, 'बट नॉट ह्यूमन' लिखी तख्ती को रोंदकर लोग आगे बढ़ जाते हैं। लघुकथा साबित करती है कि–धर्म के नाम पर संगठित लोग मनुष्यता से कोसों दूर हैं।

भारतीय समाज में जातिवाद की सर्वव्यापकता को साहस के साथ उजागर करती है, पूरन सिंह की लघुकथा 'नीची जाति'। इस लवाकारीय कथा रचना में वे एक-साथ अनेक सामाजिक बुराइयों पर उंगली रखते हैं। उन कारणों पर भी, जो हिंदू समाज के अस्पृश्य समझे जाने वर्ग पर मुस्लिम समाज के निकट जाने का दबाव बनाते हैं। मुस्लिम वर्ग से अपनापन महसूस करने वाला कथानायक, सौहार्दवश जब अपने एक मुसलमान सहकर्मी के घर जाता है, तब सहकर्मी के 'अब्बा' द्वारा खुलकर कथानायक की जाति पूछना उसे यथार्थ की उस कठोर जमीन पर ला पटकता है, जिससे अभी तक वह अनजान था। देखिए–

"आप हिंदुओं में नीची जाति से हैं क्या।" उन्होंने एक ही सांस में पूछ लिया था।

"मैं नीची जाति में से हूं या नहीं, यह दीगर सवाल है बाबूजी; लेकिन क्या मुसलमान, अर्थात् आप भी, मुझे नीची जाति का मानते हैं? यह जरूरी सवाल है।" मैंने पूछा था अकरम के अब्बू से तो वे कुछ नहीं बता पा रहे थे।

इस प्रकार, कथानायक को जब मुसलमानों के बीच जाकर भी 'नीची जाति' का प्रश्न मिला, तो उसका भ्रम टूट गया। कथा बताती है, कि–जाति का जहर हर धर्म में फैला हुआ है और इंसानियत को तेजी से निगल रहा है।

'लूडो' घरेलू जीवन में स्त्री-पुरुष संबंधों की सूक्ष्म असमानता को तो उजागर करती ही है, यह भी बताती है कि परिवार में सौहार्द के मूल्य को जो जानता-पहचानता है, वह सिर्फ लूडो में ही हारता है, जीवन में नहीं। 'लूडो' की बिसात पर रोज-रोज की जीत सुभद्रा को बोध कराती है कि औरत की निरंतर जीत पुरुष अहं को नहीं, रिश्ते को तोड़ सकती है। उसी दिन से वह बिसात पर हारना शुरू कर देती है और पारिवारिक सौहार्द को बचा लेती है।

पूरन सिंह की लघुकथाओं में बिंब की बुनावट बहुत बारीक और बोलने वाली होती है। स्त्री के जीवनभर के त्याग, सेवा, समर्पण और अनदेखे श्रम का मार्मिक प्रतीक है लघुकथा 'रीढ़ की हड्डी' । कथानायिका का दर्द महज शारीरिक नहीं, बल्कि गलत-सही हर फरमान पर उम्र भर 'जी हुजूर' कहते रहने की विवशता से उपजा मानसिक क्लेश है। लघुकथा में कथा नायिका के तीन हितैषी प्रस्तुत किए गये हैं–पिता समान उसका बड़ा भाई, उसे दुखी न देख पाने वाला पति और पुत्र। इनके माध्यम से कथाकार ने समूची पितृसत्ता को ला खड़ा किया है। बिना शिकायत, बिना थके, झुकते रहने की स्त्री-पीड़ा का परिणाम है–'रीढ़ की हड्डी' का लाइलाज दर्द। डॉक्टर की सलाह 'अब झुकना मत' बहुत देर से आई है, इतनी देर से कि, जब झुकने को कुछ बचा ही नहीं। यह लघुकथा स्त्री की सहनशीलता और अदृश्य संघर्षों की गहरी पड़ताल प्रस्तुत करती है।

लघुकथा 'आंचल' शहरी कला-संस्कृति और हाशिए के जीवन के बीच मौजूद असमानता, भावनात्मक दूरी और वर्गीय विभाजन को उजागर करती है। शन्नो, हमेशा ही रंग-कलाकारों को चाय पिलाती है और ऑडियंस की भीड़ बढ़ाने के उद्देश्य से अपने बच्चों को दर्शक बनाकर 'आंचल' में भेजती रही है। आज जब उसके दूध पीते बच्चे को मंच पर 'मृत बालक' के पात्र के रूप में सौंपने की बात की जाती है, तो मां होने की उसकी अस्मिता जाग उठती है। 'आंचल' थियेटर, जो कभी-कभार हजार-पांच सौ रुपए उसे दे जाने का स्रोत-जैसा था, शन्नो की ममता के आगे भरभराकर ढह जाता है। यह कथा बताती है कि थियेटर जिसे 'टूल' समझने की गलती करता है, लोक में उसका क्या मूल्य है। आत्मसम्मान और ममता बाजार की भाषा नहीं जानते।

'शातिर औरत' लघुकथा व्यंग्यात्मक शैली में लिखी गयी है। कथा इस विडंबना को उजागर करती है कि भयभीत व्यवस्था धार्मिक सोच वाली अथवा बनाव-शृंगार में डूबी रहने वाली महिलाओं को नहीं,

सोचने-समझने-लिखने वाली महिलाओं को शातिर मानती है।

लघुकथा 'पेट' मानवीय संवेदना और वर्गीय विडंबना का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है। पूरन सिंह ने भूख की विकरालता को इतनी संजीदगी और विश्वास से उकेरा है कि पाठक भीतर तक हिल जाता है। अमोधा का आत्मसम्मान, विवशता के आगे झुकता नहीं, बल्कि पेट की पुकार को प्राथमिकता दे उठता है। यह लघुकथा उन नैतिक उपदेशकों की अपेक्षाओं पर भी सवाल उठाती है जो भूख की वास्तविकता से अनभिज्ञ हैं। मिश्राईन की दया 'दान' के नाम पर आत्मसंतोष पाती है। यह लघुकथा उच्च-वर्गीय समाज के अमानवीयता चरित्र, जैसे 'बचा-खुचा खाना या तो कुत्ते को देना है या गरीब को' तथा वर्गीय असमानता की क्रूर तस्वीर पेश करती है। अंत में कथानायक का भावनात्मक रूप से टूटना और अमोधा के गले से लगकर रो पड़ना भी उस सच्चाई का स्वीकार है, जिससे वह खुद या तो अनभिज्ञ था या आंखें चुरा रहा था।

पूरन सिंह की 'मन' को स्त्री-विमर्श की उत्कृष्टतम लघुकथाओं में रखा जा सकता है। इसमें स्त्री-जीवन में शारीरिक संबंधों की एकपक्षीयता, भावनात्मक उपेक्षा और आत्म-अस्मिता के दमन को लेखक ने अद्‌भुत साहस के साथ मार्मिक रूप से उजागर किया है। इस लघुकथा में दर्ज '28 वर्ष' का समय एक प्रतीक मात्र है। यह समय दिन, महीने, साल, कुछ भी हो सकता है; इतने घंटे, मिनट, सैकेंड भी। पीड़ादायक यह है कि इतने समय तक केवल 'शरीर' बनी रही पत्नी अपने आप को व्यक्त करने का साहस नहीं संजो पाई; वह स्पर्श की ही वस्तु बनी रही, भावना की नहीं; व्यक्त होने का अवसर तो उसे कभी दिया ही नहीं गया । उस समय, जब समूचा साहस बटोरकर वह अपने अधिकार, संवेदना और अस्तित्व की बात करती है, तब पति करवट लेकर खर्राटे लेने लगता है। यह लघुकथा बताती है कि पुरुष का 'मन' केवल अपनी संतुष्टि तक सीमित रहता है। स्त्री की दबी हुई चीखों और उसके मौन प्रतिरोध को वह न तो सुनना चाहता है, न सुनने लायक बनना चाहता है।

लघुकथा 'बरसात' बरसात के सौंदर्य और संघर्ष दो विपरीत विपरीत बिंदुओं पर विमर्श प्रस्तुत करती है। बरसात की उपयोगिता, अनुपयोगिता पर पुरातन कथा-साहित्य में अनेक कथाएं हैं। इस लघुकथा में बेटी के लिए बरसात रोमांटिक एहसास है, लेकिन पिता के लिए वह बचपन की असुरक्षा, गरीबी और मां की आंखों से बरसता सैलाब है। कथा रेखांकित करती है कि आर्थिक स्थिति समय के साथ बदल सकती है, लेकिन असहाय स्थितियों की यादें व्यक्ति की संवेदना को अमिट बना देती हैं। उसे केवल अपने लिए नहीं, दूसरों की भूख और भय के लिए भी सोचने को विवश करती हैं। देखिए–

बेटी ने जान लिया कि पापा अपने अतीत में चले गए थे, "पापा मत सोचा करो पुराने दिनों के बारे में। अब हम गरीब नहीं हैं।"

"और जो गरीब हैं, उनका क्या !" न चाहकर भी बोल गया था मैं। लघुकथा 'मां' मां-बेटे के संवाद के माध्यम से मातृत्व की निस्वार्थता और भावनात्मक गहराई को मार्मिक रूप में प्रस्तुत करती है। बेटा अपनी सफलता और वैभवपूर्ण भौतिक उपलब्धियां मां को गिनाकर खुश करना चाहता है, पर मां की चिंता सिर्फ यही है कि बेटे ने खाना खाया या नहीं। कम से कम भारतीय मां की प्राथमिकता तो संतान की शारीरिक और मानसिक भलाई ही है। लघुकथा यह तो उजागर करती ही है कि मां का प्रेम स्नेह की सहजता में होता है, प्रदर्शन में नहीं; यह भी बताती है कि महानगरों में सर्वसुविधा सम्पन्न नौकरी पाने वाले नौनिहालों का शारिरिक-मानसिक शोषण कितना हो रहा है। इसे बताने के लिए कथाकार पूरन सिंह ने केवल एक वाक्य का प्रयोग किया है–

"तूने कुछ खाया कि नहीं।" मां के इतना पूछने पर बेटा फोन कान से लगाए ही रह गया; और मां आज भी उसके उत्तर की प्रतीक्षा कर रही है।

संबंधों को 'बोझ' न मानने की थीम पर हिन्दी में अनेक लघुकथाएं लगभग एक ही प्रकार से लिखी जा चुकी है। इनमें पूरन सिंह की 'बोझ' भी आ जुड़ी है। अन्तर मात्र यह है कि विगत लघुकथाओं में 'बोझ' के रूप में भाई है, इसमें मां है।

लघुकथा 'ज्ञानाश्रय' में पूरन सिंह धर्म, आस्था और आडंबर के अंत-

विरोधों को बेनकाब करते हैं। सत्संग स्थल, जहां दिन भर आध्यात्मिकता और सदाचार की बातें होती हैं, वहीं अवकाश के पल घिनौने हो जाते हैं। लेखक ने एक असहाय व्यक्ति की दृष्टि से इस पाखंड और पतन को उजागर करने का प्रयास किया है कि धर्म संसदों का आंतरिक यथार्थ घोर पाखंड और नैतिक पतन से परिपूरितहै। लघुकथा का अंतिम दृश्य धार्मिक संस्थानों की खोखली नैतिकता पर करारा तमाचा लगाता है। इससे कथा की मार्मिकता और प्रहारशीलता दोनों बढ़ गयी हैं।

धार्मिक उन्माद और कट्टरता के भयावह परिणामों को गहराई से उजागर करती है लघुकथा 'विलाप'। पं. शिवदत्त चौबे, जो सांप्रदायिक घृणा को हवा देकर भीड़ को हिंसा के लिए उकसाते हैं, स्वयं उसी हिंसा के शिकार हो जाते हैं। यह कथा दर्शाती है कि जब नफरत की आग भड़कती है, तो वह अपने-पराये का भेद नहीं करती—सब-कुछ भस्म कर देती है। यह एक कठोर आत्मबोध है कि घृणा का बीज बोने वाला ही सबसे पहले उसका फल चखता है।

लघुकथा 'स्कूल यूनिफार्म' शिक्षा व्यवस्था की कठोर अनुशासनप्रियता और उसमें छिपे अमानवीय पक्ष को मार्मिक ढंग से उजागर करती है। एक गरीब छात्र की असहाय स्थिति और आत्मसम्मान की त्रासदी को लेखक ने बेहद प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। इस लघुकथा का उल्लेखनीय पक्ष शिक्षक के कठोर व्यवहार का आत्मग्लानि में बदल जाना है। यह दृश्य दर्शाता है कि अनुशासन जब संवेदनाओं से वंचित हो जाता है, तो वह अपमान और पीड़ा का कारण बनता है; लेकिन वही जब संवेदनाओं से जुड़ जाता है तो अगाध अपनत्व का कारण बन जाता है। इस लघुकथा के अंत की करुणा कथा को भावनात्मक ऊंचाई प्रदान करती है, पाठक को भिगो देती है। देखिए–

जब मुझसे पीड़ा सही नहीं गई तो मैने नेकर की बैल्ट खोलकर कमीज अंदर की ही थी कि सभी बच्चे एक साथ चिल्लाए थे–"ए देखो...ऐ देखो ...चूतड़ दिखे...चूतड़ दिखे।"

दरअसल, कमीज नेकर के अंदर पैक करते ही मेरे चीथड़ा-चीथड़ा हुए नेकर से मेरे चूतड़ दिखाई देने लगे थे । बच्चों के चिल्लाए जाने पर जो पीड़ा मुझे हुई थी, वह पीड़ा मेरे क्लास टीचर के मुझ पर डंडे बरसाए जाने से करोड़ों गुना ज्यादा थी जो आंसुओं से नहीं निकली थी। वह अंदर ही अंदर समा गई थी। मेरे क्लास टीचर ने मुझे पीटना बंद कर दिया था। डंडा एक तरफ फेंककर वे भी बिलख पडेघ थे। वे सिर्फ इतना ही कह पा रहे थे, 'माफ कर दे रामनाथ..... मेरे बच्चे मुझे माफ कर दे'। और उन्होंने मुझे अपनी दोनों बाहों में ऐसे भर लिया था मानो चिड़िया अपने बच्चे को अपने पंखों में छिपा लेती है।

यह करुणा वस्तुत: पूरन सिंह के हृदय की स्थायी करुणा है जो उनकी लघुकथाओं में यत्र-तत्र स्थान पा जाती है। याद कीजिए, 'पेट' और 'बरसात' जैसी उनकी लघुकथाएं।

लघुकथा 'कांवड़िया' धार्मिक आस्था के नाम पर फैली अनुशासन-हीनता, अंधभक्ति, अमानवीयता, असंवेदनशीलता और क्रूरता पर तीखा प्रहार करती है। कांवड़ियों की आस्था मानवता और करुणा से विहीन होकर कब उग्र भीड़ में बदल जाएगी, कोई नहीं जानता। दुर्भाग्य यह कि प्रशासन भी उन उच्छृंखलों के साथ खड़ा होता है। लेखक ने आस्था और हिंसा के इस टकराव को गहरी मार्मिकता और विडंबना के साथ प्रस्तुत किया है। कथा सवाल उठाती है कि–क्या ईश्वर की पूजा मानवता की कीमत पर होनी चाहिए?

लघुकथा 'महाकाली' धार्मिक संस्थानों में व्याप्त ढोंग, पाखंड और स्त्री उत्पीड़न की कड़ी आलोचना है। लेखक ने आस्था की आड़ में चल रहे शोषण और हिंसा को बेनकाब करते हुए एक साहसी लड़की के माध्यम से प्रतिरोध और न्याय की स्थापना की है। पुजारी, जो जनता की श्रद्धा का केंद्र था, असल में विकृत और भ्रष्ट आचरण का प्रतीक है। जब लड़की विद्रोह करती है, तो वही समाज जो उसे शिकार बना रहा था, 'महाकाली' घोषित कर डालता है। यह विडंबना दर्शाती है कि जब तक स्त्री विरोध नहीं करती, वह पूजनीय नहीं मानी जाती। यह लघुकथा जहां साहस और व्यवस्था-विरोध की प्रभावशाली प्रतीक बनकर उभरती है, वहीं यह भी स्थापित करती है कि

भ्रष्ट लोगों का कॉकस साहस और विरोध के भीतर से भी अपनी ऐय्याशी के साधन जुटा लेता है।

लघुकथा 'भूत' में लेखक ने एक भूखे बच्चे की मासूम जिजीविषा और एक मां की विवशता को अत्यंत संवेदनशीलता से उकेरा है। श्मशान जैसे डरावने स्थान पर भोजन खोजना इस बात का प्रतीक है कि भूख भय से भी बड़ी है। मां का यह कहना कि–'भूत, भूख से बड़ा थोड़े ही होता है।' उस समाज पर करारा प्रहार करती है जो अंधविश्वासों को तो पालता है, पर गरीब की भूख को अनदेखा करता है। यह कथन 'पेट' में कहे गये कथन के समान्तर उसी मजबूती से यहां भी खड़ा है।

लघुकथा 'इंतजार' आधुनिक समाज में पारिवारिक मूल्यों के पतन और वृद्धों की उपेक्षा का करुण चित्र प्रस्तुत करती है। किराए के लालच में पिता की उपस्थिति बेटे को बोझ लगने लगती है। पिता की आंखों से चुपचाप गिरती बूंदें इस अमानवीयता का विवश और मौन प्रतिवाद हैं।

लघुकथा 'ब्लैकमेल' वर्गीय विषमता, जातिगत पूर्वग्रह और बच्चों की दुनिया में मौजूद सामाजिक भेदभाव को अत्यंत सटीकता से उजागर करती है। एक सफाईकर्मी का बेटा अपने टिफिन में बासी सब्जी लाता है, जबकि उसका ब्राह्मण सहपाठी ताजी। मित्रतावश वह बासी सब्जी खाता तो है, सामाजिक शर्म के वशीभूत स्वीकार नहीं करता। दोस्ती के पीछे छिपी यह शर्म और भय असल में जातिवादी मानसिकता और सामाजिक जड़ता की देन है। यह कहानी यह तो दिखाती ही है कि असमानता के बीच भी आत्मसम्मान कैसे आवाज बनता है, यह भी दिखाती है कि बालमन किसी भी प्रकार के भेदभाव से अछूता होता है। छूत की बीमारी उसमें बचपन छिन जाने के बाद घर करती है।

वर्गीय संवेदनाओं, सांस्कृतिक स्मृतियों और सामाजिक अपमान की तीखी टकराहट को प्रस्तुत करती लघुकथा है 'बाजरे की रोटी'। गांव की सादगी और संघर्षपूर्ण बचपन की स्मृति जब 'बाजरा' के बहाने साझा होती है, तो उसमें सम्मान और आत्मीयता की तलाश होती है। परन्तु एक सहकर्मी का यह कहना कि 'बाजरा तो जानवर खाते थे' उस स्मृति को अपमान में बदल देता है। 'कैसे-कैसे अपमान झेलकर मां-पिताजी ने हमें पाला है' जैसा अनकहा विचार आंसू बनकर बह पड़ता है। कथा दिखाती है कि अनजाने ही कहे गये सहज शब्द भी किसी भुक्तभोगी को कितनी गहरी चोट पहुंचा सकते हैं।

लघुकथा 'सुराही' धार्मिक पाखंड, जातिवादी मानसिकता और पुरुषसत्तात्मक ढोंग का मुखर पर्दाफाश करती है। पंडितजी एक ओर तो धर्म, पूजा और ब्राह्मणत्व का मुखौटा पहनते हैं, दूसरी ओर वासना की पूर्ति के लिए एक नाचने वाली स्त्री का शोषण करते हैं। विडंबना यह है कि शारीरिक संबंधों में उन्हें कोई अपवित्रता नहीं दिखती, लेकिन पानी पीने में जाति की 'शुद्धता' याद आ जाती है। यह कथा समाज की उस गहरी जातिवादी विकृति को उजागर करती है, जो आज भी जस की तस है।

लघुकथा 'मैं चुप नहीं रहूंगी' स्त्री के मौन, सहनशीलता और भीतर पलती असहनीय पीड़ा के विद्रोह को गहराई से उकेरती है। शारदा वर्षों तक अपमान और अन्याय को चुपचाप सहती रही, जिसे उसके पति ने उसकी 'अच्छाई' के रूप में रेखांकित किया। लेकिन शारदा का मौन उसका समर्पण नहीं, एक दमित आक्रोश था, जो अंततः फूट पड़ा। रुग्ण पत्नी को, पति का भावुक रूप से 'जनम-जनम की पत्नी' बनाने का ईश्वर से आग्रह उसके लिए एक यातना की पुनरावृत्ति जैसा था। यह कथा पितृसत्तात्मक सोच के विरुद्ध खड़ी हो जाने वाली स्त्री के मुखर विद्रोह को उसकी पूर्णता में दर्ज करती है। यह स्त्री की स्वायत्तता की उपेक्षा और विवाह संस्था के भीतर स्त्री के दर्द की अनदेखी पर एक सशक्त और विचारोत्तेजक विमर्श प्रस्तुत करती है। इसमें शारदा की दुत्कार, दमित स्त्री की चीत्कार बनकर उभरती है; देखिए–

"और अगर भगवान ने तुम्हारी प्रार्थना सुन ली तो मैं समझूंगी कि दुनिया में भगवान है ही नहीं।" शारदा पहली बार चिल्लाकर बोली थी। ऐसा लगा था, जैसे ज्वालामुखी फट पड़ा हो, "क्यों मांगा तुमने मुझे जनम-जनम के लिए । इस जनम में तुमने जो मुझे दिया, पहले उसके बारे में सोचते, तब जनमों की बात करते। स्वार्थी कहीं

के।"

शारदा अब भी हांफ रही थी। उसके पति उसके मुंह की तरफ देख रहे थे और सोच रहे थे–उन्होंने तो सिर्फ भगवान से उसके लिए प्रार्थना ही की थी; लेकिन वह बुरा क्यों मान गई?

दरअसल, कोई भी आततायी, अपने किए आतंक को अपनी आंखों से देख नहीं पाता है।

लघुकथा 'वचन' भारतीय समाज की गहरी जातीय संरचना, पाखंड और छद्मपूर्ण समानता की पोल खोलती है। मंगुआ की निष्ठा और बलिदान के बावजूद, ठाकुर का उसको 'भाई' कहने का जो दावा था–वह क्षण भर में उस समय टूट गया जब मंगुआ ने सामाजिक बराबरी की एक मामूली इच्छा जताई। ठाकुर का हिंसक रूप उसी क्षण बाहर आ गया। उसका हिंसक प्रतिक्रिया देना उस व्यवस्था का प्रतीक है जो दलितों को समानता का अधिकार नहीं देना चाहती।

एक कलाकार के अंतर्मन, उसकी अधूरी प्रेमकथा और सृजन के भावनात्मक आयाम को संवेदनशीलता से उकेरती हैलघुकथा 'शिल्पकार'। शिल्पकार द्वारा बनाई गई एक स्त्री-मूर्ति में कला की परिपूर्णता तो है, पर प्रेम का अधूरापन रह गया है–यही उसकी आत्मग्लानि और पीड़ा का कारण है। कथा इस गहरे द्वंद्व को दर्शाती है कि कलाकार भले ही बाहरी रूप से सौंदर्य रच ले, पर यदि भीतर भावनात्मक रिक्तता हो तो अपनी कला को वह अधूरी ही आंकता है। खरीदार नवयुवक का मूर्ति को मात्र सुंदर वस्तु समझना और शिल्पकार का अपनी भावनात्मक टूटन से टकराना, इस लघुकथा का सौन्दर्य है। यही भाव इस लघुकथा को मार्मिकता और गहराई प्रदान करता है।

लघुकथा 'दाग' सामाजिक दोहरेपन, स्त्री-विरोधी मानसिकता और लेखक की आत्ममुग्धता को केंद्र में रखकर लिखी गयी है और उसकी तीखी आलोचना करती है। एक लेखक, जो वेश्या जैसी हाशिये पर खड़ी महिलाओं पर सहानुभूतिपूर्ण लेखन करता है, जब वास्तविक जीवन में उन्हीं में से एक से मिलता है, तो उसकी सारी सहानुभूति और आदर्श धराशायी हो जाते हैं। रानी के आत्मसम्मान और सच्चाई के आगे लेखक की मानसिक संकीर्णता उजागर हो जाती है। कहानी प्रश्न उठाती है कि–क्या लेखक की संवेदना केवल शब्दों तक ही सीमित रहनी चाहिए? यह लघुकथा स्त्री सम्मान पर किये गये लेखकीय प्रहार के माध्यम से रचनात्मक नैतिकता के छद्म को उजागर करती है।

लघुकथा 'सौदा' इंसानियत के नाम पर कलंक बन चुके पारिवारिक-सामाजिक ताने-बाने और सुरक्षा तंत्र की अविश्वसनीयहो चुकी भूमिका का बेहद सघन चित्रण करती है। जहां एक ओर एक भाई अपनी ही बहन का सौदा एक बूढ़े से करता है, वहीं रक्षक की भूमिका में आया सिपाही भी उसका भक्षक बन जाता है। यह लघुकथा उस भयावह सच्चाई को उजागर करती है, जहां एक लड़की के विश्वास को एक वर्दीधारी ही छिन्न-भिन्न कर डालता है। लघुकथा स्त्री-शोषण, विश्वासघात और पितृसत्तात्मक हिंसा के वीभत्स रूप पाठक के सामने रखती है।

'मासूम श्रेया' हो, 'मां' हो, 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि' हो, 'नीची जाति' हो या कोई अन्य, पूरन सिंह की लघुकथाओं में पात्रों द्वारा पूछे गये लगभग सभी प्रश्न अनुत्तरित रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि लेखक एक उत्तरविहीन समाज में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जूझ रहा है। यह जूझना ही उसके लेखन की ईमानदारी और सार्थकता है।

"यदि हम एक संयुक्त, एकीकृत, आधुनिक भारत चाहते हैं तो सभी धर्मों के शास्त्रों की संप्रभुता का अंत होना चाहिए।"

डॉ. बी. आर. आंबेडकर